

चार्वाक और न्याय दर्शन में ज्ञान, प्रमाण एवं सत्य की अवधारणा

Deep Narayan Kumar¹
Research Scholar
Department of Philosophy

Prof (Dr.) Rajeev Kumar²
University Department of Philosophy

सार

भारतीय दर्शन की परंपरा अत्यंत समृद्ध और बहुआयामी रही है, जिसमें विभिन्न दार्शनिक मतों ने मानव जीवन, ज्ञान, सत्य तथा मोक्ष के संबंध में अपने-अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। चार्वाक तथा न्याय दर्शन भारतीय आस्तिक और नास्तिक परंपराओं के दो महत्वपूर्ण दार्शनिक मत हैं, जिनका भारतीय चिंतन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। चार्वाक दर्शन भौतिकवादी एवं प्रत्यक्षवादी दृष्टिकोण का समर्थन करता है और प्रत्यक्ष प्रमाण को ही ज्ञान का मुख्य आधार मानता है। यह वेद, ईश्वर, आत्मा तथा परलोक जैसी अवधारणाओं को स्वीकार नहीं करता तथा भौतिक सुख को जीवन का मुख्य उद्देश्य मानता है। दूसरी ओर न्याय दर्शन तर्क, प्रमाण और युक्तिपूर्ण विचार पर आधारित दर्शन है, जो ज्ञान की सत्यता की जांच के लिए व्यवस्थित पद्धति प्रस्तुत करता है। न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—इन चार प्रमाणों को मान्यता दी गई है। यह दर्शन आत्मा, ईश्वर तथा मोक्ष की स्वीकृति देता है और तार्किक विवेचना के माध्यम से सत्य तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करता है। चार्वाक दर्शन जहाँ अनुभववादी और भौतिकवादी दृष्टिकोण को महत्व देता है, वहीं न्याय दर्शन तार्किकता और प्रमाण आधारित ज्ञान की स्थापना करता है। दोनों दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भारतीय दार्शनिक परंपरा में विचारों की विविधता और वैचारिक समृद्धि को स्पष्ट करता है। यह अध्ययन चार्वाक तथा न्याय दर्शन के मूल सिद्धांतों, ज्ञानमीमांसा, जीवन-दृष्टि और सामाजिक प्रासंगिकता का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

मुख्य शब्द: चार्वाक , न्याय , दर्शन , ज्ञान , प्रमाण , सत्य

परिचय

भारतीय दर्शन की भौतिकवादी परंपरा के रूप में प्रसिद्ध Charvaka (चार्वाक दर्शन) में “अर्थ” की अवधारणा अन्य दर्शनों से भिन्न और विशिष्ट रूप में प्रस्तुत की गई है। चार्वाक दर्शन मुख्यतः प्रत्यक्षवाद (empiricism) और भौतिकवाद (materialism) पर आधारित है, जिसके अनुसार केवल वही सत्य है जो प्रत्यक्ष रूप से अनुभव किया जा सके। इस दृष्टिकोण का प्रभाव “अर्थ” की अवधारणा पर भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

चार्वाक दर्शन में “अर्थ” का तात्पर्य मुख्यतः भौतिक वस्तुओं और इन्द्रियसुख से संबंधित है। यहाँ “अर्थ” को किसी दार्शनिक या आध्यात्मिक तत्त्व के रूप में नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाली वस्तु के रूप में समझा जाता है। चार्वाक यह स्वीकार नहीं करता कि आत्मा, पुनर्जन्म या मोक्ष जैसे अदृश्य तत्त्व “अर्थ” हो सकते हैं, क्योंकि ये प्रत्यक्ष अनुभव के दायरे में नहीं आते। इस प्रकार चार्वाक के लिए “अर्थ” वही है जो इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण किया जा सके।

चार्वाक दर्शन में प्रमाण के रूप में केवल प्रत्यक्ष (perception) को ही स्वीकार किया गया है। अनुमान और शब्द जैसे अन्य प्रमाणों को यह अविश्वसनीय या अप्रामाणिक मानता है। इस कारण “अर्थ” का ज्ञान भी केवल प्रत्यक्ष

अनुभव तक सीमित हो जाता है। उदाहरण के लिए अग्नि का ज्ञान तभी सत्य है जब उसे देखा या महसूस किया जाए; केवल धुएँ के आधार पर अग्नि का अनुमान करना चार्वाक के अनुसार निश्चित ज्ञान नहीं है।

चार्वाक दर्शन :

ऐतिहासिक सर्वेक्षण — भारतीय वाङ्मय में चार्वाक का नाम भौतिकवादी दर्शन से जुड़ा हुआ है। इसके साथ ही एक अन्य सम्बद्ध नाम बृहस्पति का भी मिलता है। अनुश्रुति के अनुसार बृहस्पति देवताओं के गुरु थे, जिन्होंने देव-शत्रुओं को भ्रमित करने के उद्देश्य से भौतिकवादी दर्शन का आविष्कार किया। तथापि, इतिहास की दृष्टि से चार्वाक नामक व्यक्ति के संबंध में कोई ठोस और प्रामाणिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। महाभारत में चार्वाक को एक राक्षस के रूप में चित्रित किया गया है, परन्तु ऐसी कथाओं को ऐतिहासिक दृष्टि से स्वीकार करना कठिन है। इसके विपरीत, यूनानी दार्शनिक Epicurus के व्यक्तित्व और कृतित्व का अपेक्षाकृत संतोषजनक विवरण प्राप्त होता है, जबकि चार्वाक के संबंध में यह स्थिति नहीं है।¹

इन सीमाओं को स्वीकार करते हुए प्रस्तुत अध्याय में भारतीय भौतिकवाद का ऐतिहासिक सर्वेक्षण किया जा रहा है। यह सर्वेक्षण केवल चार्वाक और बृहस्पति तक सीमित न रहकर व्यापक भौतिकवादी प्रवृत्तियों को भी समाहित करेगा। चार्वाक दर्शन के विशद विवेचन से पूर्व प्राचीन भारतीय साहित्य में विद्यमान भौतिकवादी संकेतों और प्रवृत्तियों का संक्षिप्त अवलोकन आवश्यक है, यद्यपि आगे के अध्यायों में मुख्यतः उन्हीं सिद्धांतों की चर्चा की जाएगी जिनका प्रत्यक्ष संबंध चार्वाक से जोड़ा जाता है।

चूँकि भौतिकवाद से सम्बद्ध विचारों, सम्प्रदायों एवं उनके प्रतिपादकों के लिए विभिन्न साहित्यों में विविध नामों का प्रयोग हुआ है, अतः इस सर्वेक्षण में केवल चार्वाक और बृहस्पति से सम्बद्ध विचार ही नहीं, बल्कि वे सभी मत और प्रवृत्तियाँ सम्मिलित की जाएँगी जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भौतिकवाद से संबद्ध हैं। तत्पश्चात् चार्वाक और बृहस्पति से सम्बद्ध विचारों का विश्लेषण यथास्थान प्रस्तुत किया जाएगा।

इस सर्वेक्षण से पूर्व भौतिकवाद की संकल्पना को स्पष्ट करना आवश्यक है। संक्षेप में, भौतिकवाद वह दार्शनिक सिद्धांत है जिसके अनुसार विश्व का मूलतत्त्व भौतिक (जड़) है और समस्त सृष्टि की उत्पत्ति इसी जड़ तत्व से होती है। यह सिद्धांत अध्यात्मवादी मतों में प्रतिपादित आत्मा, चैतन्य या ब्रह्म की स्वतंत्र सत्ता को अस्वीकार करता है और जड़ पदार्थ को ही मूलभूत यथार्थ के रूप में स्वीकार करता है।

उपनिषदों में भौतिकवादी उल्लेख—

वैदिक साहित्य में उपनिषदों का स्थान अंतिम माना जाता है। वेद के अंतिम भाग होने के कारण इन्हें 'वेदांत' कहा जाता है। 'वेदांत' शब्द का अर्थ केवल वेद का अंत ही नहीं, बल्कि वेद में निहित ज्ञान की चरम अभिव्यक्ति भी है। इसी अर्थ को Max Müller ने स्वीकार किया है। उपनिषदों का महत्व इस तथ्य से भी स्पष्ट होता है कि भारतीय आस्तिक दर्शनों ने अपने सिद्धांतों की पुष्टि हेतु प्रायः उपनिषदों का ही सहारा लिया है। इसी संदर्भ में Maurice Bloomfield ने अपनी पुस्तक The Religion of the Veda में कहा है कि हिंदू विचारधारा का कोई भी महत्वपूर्ण अंग—यहाँ तक कि बौद्ध जैसे नास्तिक माने जाने वाले मत भी—ऐसे नहीं हैं जिनकी जड़ें उपनिषदों में न मिलती हों।

उपनिषदों की संख्या और रचना-काल के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है, तथापि सामान्यतः इनकी संख्या 108 मानी जाती है, जिनमें से 10 उपनिषद् प्रमुख हैं। इन्हीं प्रमुख उपनिषदों पर Adi Shankaracharya ने भाष्य लिखा है, और ये ही सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक माने जाते हैं। प्रारंभिक उपनिषदों का निर्माण-काल सामान्यतः 1000 ईसा पूर्व से 300 ईसा पूर्व के मध्य माना जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ उत्तरवर्ती उपनिषद् भी हैं, जिनका निर्माण बौद्धकाल के पश्चात् लगभग 400 या 300 ईसा पूर्व के आसपास हुआ माना जाता है।

उपनिषदों में निहित विचारों को किसी एक दार्शनिक सम्प्रदाय के अंतर्गत सीमित नहीं किया जा सकता। इनमें केवल शंकर का अद्वैतवाद ही नहीं, बल्कि अन्य भारतीय दर्शनों की प्रतिध्वनि भी मिलती है। उपनिषद् किसी एक विषय का प्रतिपादन नहीं करते, बल्कि इनमें ऐसे संकेत भी मिलते हैं जो लौकिक जीवन, धन, सफलता आदि से संबंधित हैं। तथापि, उपनिषदों की निष्पक्ष व्याख्या न होने के कारण प्रायः यह धारणा बन गई है कि इनमें केवल अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन है।

इस तथ्य को स्वीकार करते हुए Sarvepalli Radhakrishnan ने कहा है कि विभिन्न व्याख्याकार अपने-अपने पूर्वग्रहों और विश्वासों के अनुसार उपनिषदों की व्याख्या करते हैं और उनकी भाषा को इस प्रकार परिवर्तित करते हैं कि वह उनके निजी सिद्धांतों के अनुकूल प्रतीत हो। दर्शन के इतिहास में यह प्रवृत्ति सामान्य रही है कि नवीन दार्शनिक मतों को प्राचीन परंपराओं की व्याख्या के माध्यम से अस्वीकार्य ठहराया गया, जिससे उनके वास्तविक स्वरूप को समझने में बाधाएँ उत्पन्न हुईं। स्वयं उपनिषदों की व्याख्या भी इस दुर्भाग्य से अछूती नहीं रही है।

रामायण में भौतिकवादी विचार—

महाकाव्य Ramayana का काल सामान्यतः 600 ईसा पूर्व से 200 ईसा पूर्व के मध्य माना जाता है। यहाँ हम रामायण में वर्णित भौतिकवादी विचारों का विवेचन करेंगे। भौतिकवाद परलोक, ईश्वर तथा यज्ञ, दान आदि कर्मकाण्डात्मक क्रियाओं का विरोध करता है। इसी प्रकार का विरोध और खंडन रामायण के एक विशिष्ट प्रसंग में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

दशरथ की मृत्यु के प्रसंग में जाबालि नामक एक ब्राह्मण पण्डित का उल्लेख मिलता है। उसने शोकाकुल भरत को सांत्वना देते हुए भौतिकवादी विचारों को अभिव्यक्त किया। उसके अनुसार पितरों के लिए किए जाने वाले श्राद्ध आदि कर्म निरर्थक हैं, क्योंकि यह असंभव है कि मृत व्यक्ति अन्न का उपभोग कर सके। यदि एक व्यक्ति द्वारा खाया गया अन्न दूसरे के शरीर तक नहीं पहुँच सकता, तो श्राद्ध में अर्पित अन्न मृतकों तक कैसे पहुँचेगा? वह आगे कहता है कि यज्ञ, दान, तप, दीक्षा आदि की व्यवस्था चतुर लोगों द्वारा लोक को प्रभावित करने और उन पर नियंत्रण स्थापित करने के उद्देश्य से की गई है। अतः हे महामते, इस लोक के अतिरिक्त कोई परलोक नहीं है; इसलिए जो प्रत्यक्ष है उसी को स्वीकार करना चाहिए और जो परोक्ष है, उसे त्याग देना चाहिए।

रामायण में जाबालि के इस वक्तव्य में भौतिकवाद के प्रमुख सिद्धांत निहित हैं। जैसा कि लोकायत या चार्वाक मत के अनुयायी प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं और इस दृश्य जगत को ही एकमात्र सत्य स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार जाबालि भी प्रत्यक्षवाद का समर्थन करते हैं। वे यज्ञ, दान आदि कर्मकाण्डों की आलोचना करते हैं तथा धर्मग्रंथों को लोकवंचना का साधन मानते हैं। इस प्रकार उनके कथन में भौतिकवादी विचारधारा का स्पष्ट प्रतिबिंब दिखाई देता है।

इसके अतिरिक्त रामायण में 'लोकायत' शब्द का भी उल्लेख मिलता है। राम स्वयं अपने भ्राता भरत से प्रश्न करते हैं कि कहीं वे लोकायत मत के अनुयायी ब्राह्मणों के संपर्क में तो नहीं हैं। वे ऐसे लोगों को पाण्डित्य का दावा करने वाले, परंतु वास्तव में मूर्ख और अनर्थकारी बताते हैं। उनके अनुसार ये लोग मुख्य धर्मशास्त्रों की उपेक्षा कर केवल शुष्क तर्कों में ही उलझे रहते हैं और किसी निश्चित सिद्धांत पर स्थिर नहीं रहते। वे केवल प्रत्यक्ष को ही ज्ञान का साधन मानते हैं।

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि रामायण काल में 'लोकायत' या भौतिकवादी विचारधारा का अस्तित्व था, यद्यपि उसे प्रायः नकारात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। वैदिक और उपनिषद् काल में जहाँ भौतिकवादी प्रवृत्तियाँ अस्पष्ट और क्षीण रूप में दिखाई देती हैं, वहीं महाकाव्य काल में यह एक संगठित विचारधारा के रूप में उभरती प्रतीत होती है।

पद्मपुराण

Padma Purana का पुराण साहित्य में अपना स्वतंत्र स्थान है। इसका रचनाकाल सामान्यतः ईसा की पाँचवीं शती के आसपास माना जाता है, यद्यपि कुछ विद्वान इसकी रचना Kalidasa से पूर्व की मानते हैं, क्योंकि अभिज्ञानशाकुन्तलम् की कथा इसी पुराण से ग्रहण की गई मानी जाती है। यहाँ ऐतिहासिक विवादों में न पड़ते हुए हम पद्मपुराण में वर्णित भौतिकवादी संदर्भ का विवेचन करते हैं।

पद्मपुराण के एक प्रसंग में बृहस्पति दैत्यों को संबोधित करते हुए विभिन्न धार्मिक मान्यताओं की आलोचना करते हैं। उनके कथन के अनुसार वैदिक साधना, यज्ञ, श्राद्ध आदि कर्म अत्यंत कष्टसाध्य हैं और इनका पालन मुख्यतः लौकिक स्वार्थ के लिए किया जाता है। वे यह भी कहते हैं कि वैष्णव और शैव धर्मों में भी हिंसा का विधान है, अतः उन्हें श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता। रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा जैसे देवताओं की भी वे आलोचना करते हैं और प्रश्न उठाते हैं कि ये किस प्रकार मोक्ष प्रदान कर सकते हैं।⁶³

बृहस्पति के अनुसार न स्वर्ग है और न मोक्ष; लोग व्यर्थ ही इनकी प्राप्ति के लिए कष्ट उठाते हैं। वे यज्ञों में पशु-बलि की निन्दा करते हुए कहते हैं कि यदि पशु-हत्या से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, तो यजमान अपने प्रियजनों की बलि क्यों नहीं देते। श्राद्ध आदि कर्मों की भी वे आलोचना करते हुए कहते हैं कि यदि इससे मृतक तृप्त होते हैं, तो दूर देश में रहने वाले व्यक्तियों को भी इससे तृप्त होना चाहिए, जबकि ऐसा नहीं होता।

प्रबोध चन्द्रोदय प्राचीन काव्य, नाटक में भौतिकवाद

प्रबोध चन्द्रोदय कृष्णमिश्र रचित एक नाटक है। इसमें छह अंक हैं। नाटक होते हुए भी इसमें लोकायत-चार्वाक मतानुयायी विचार पाए जाते हैं। यहाँ भी अल्प रूप में ही, पर सर्वांगपूर्ण ढंग से भौतिकवादी विचारों की झाँकी मिलती है। कृष्णमिश्र का समय लगभग ग्यारहवीं शती माना गया है।

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में चार्वाक अनुयायी के विचार बड़े सिलसिलेवार क्रम में गुँथे हुए प्रतीत होते हैं। सर्वप्रथम आत्मा के विचार का खंडन करते हुए क्रमशः अन्य बातों का निषेध किया गया है। कहा गया है कि इस जड़त्वमय देह के अतिरिक्त किसी अन्य आत्मा की सत्ता नहीं है। लोकान्तरगामी होकर आत्मा कर्मफल का उपभोग करती है—ऐसी धारणा उसी प्रकार गलत है जैसे कोई यह कहे कि अनन्त आकाश-वृक्ष में पुष्प और फल उत्पन्न होते हैं। मिथ्यावादी तथा वेदानुयायी आस्तिक सम्प्रदायियों ने अप्रत्यक्ष आत्मरूप वस्तु की विद्यमानता घोषित कर सत्यवादी तथा वेद-विरोधी नास्तिक सम्प्रदायों की निन्दा की है।

प्रेक्षावान व्यक्तियों के लिए विचारणीय है कि शरीर के कट जाने पर उस शरीर से पृथक जीवात्मा को क्या कभी देखा गया है? वर्णाश्रम धर्म की निन्दा करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इस वर्णचतुष्टय का निर्धारण शरीर से भिन्न किसी विशेष लक्षण से असंभव है। स्त्रियों के स्वच्छन्द गमन पर रोक तथा पर-सम्पत्ति के ग्रहण को निषिद्ध मानना आदि आस्तिकों के विचार उनकी निष्पुरुषार्थता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

यज्ञ का विरोध करते हुए कहा गया है कि यदि यज्ञकर्ता यजमानों के यज्ञ-सम्पादन सम्बन्धी क्रियाकलापों में धन-सम्पत्ति के स्वाहा हो जाने पर भी स्वर्गीय सुख-भोग संभव होता है, तो दावानल से जलने वाले वृक्षों में भी पर्याप्त मात्रा में फल लगना चाहिए; परन्तु ऐसा प्रत्यक्ष में नहीं देखा जाता। यदि मृत प्राणियों को इस लोक में किए गए श्राद्ध से तृप्ति होती है, तो दीपक में स्थित तेल स्वयं ही बुझ चुके दीपक की वर्तिका को पुनः प्रज्वलित कर देना चाहिए; किन्तु लौकिक व्यवहार में ऐसा नहीं होता।

नैषधीयचरित -

महाकवि द्वादश शती के श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य *नैषधीयचरित* में भौतिकवादियों, सुखवादियों एवं कुछ कामाचारियों की झाँकी प्रस्तुत की है। चूँकि श्रीहर्ष कवि होने के साथ-साथ दार्शनिक प्रतिभा से सम्पन्न हैं, इसलिए उनका उपर्युक्त विवरण अत्यन्त तार्किक एवं आक्रामक रूप में अभिव्यक्त हुआ है। *नैषधीयचरित* के सत्रहवें सर्ग में 37वें से 83वें श्लोक तक, अर्थात् लगभग 47 श्लोकों में ऐसे विचार विस्तृत रूप से मिलते हैं। यहाँ हम उनमें से मुख्य विचारों को ही प्रस्तुत करेंगे।

अन्य काव्यों की भाँति इसमें भी परलोक, यज्ञ एवं आत्मा की सत्ता का निषेध किया गया है। सर्वप्रथम यज्ञ एवं श्रुति-वाक्यों की आलोचना करते हुए कहा गया है कि यज्ञ एवं उसके फल का प्रतिपादन करने वाला वेद उसी प्रकार सत्य माना जा सकता है जैसे पत्थर का तैरना। अतः ऐसे वेद में श्रद्धा नहीं की जा सकती। ज्ञानवान व्यक्ति को काममार्ग अथवा स्वेच्छाचार का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस वेद के मर्म को भेदने के लिए बोधिसत्त्व उत्पन्न हुए जिन्होंने जगत को अस्थिर बताया। अर्थात् इस संसार में आत्मा, पाप-पुण्य आदि सब क्षणभंगुर हैं, इसलिए उनसे न तो मोक्ष की प्राप्ति संभव है और न ही परलोक का कोई स्थायी फल।

त्रयी, त्रिदण्ड, भस्मधारण आदि क्रियाएँ बुद्धि एवं पुरुषार्थ से हीन निर्धनों की आजीविका के साधन हैं। कुलों की अनादिता के कारण मातृ-पितृगत शुद्धि का निर्णय भी असंभव है। अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र आदि का विभाजन तर्कसंगत नहीं है। प्रत्येक जाति का कुल अनन्त है, इसलिए यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि कौन-सी जाति शुद्ध है। अतः जाति-धर्म का त्याग कर स्वेच्छाचार का अनुसरण करना चाहिए।

कामातुर होने पर कौन व्यक्ति परस्त्री-संबंध के दोषों से बच सकता है? जो लोग स्वयं कामासक्त होते हुए भी स्त्रियों को पर्दे में रखकर जाति-शुद्धि का अभिमान करते हैं, वे निन्दनीय हैं। परस्त्री-गमन का निषेध स्वयं इन्द्र ने अहल्या-गमन करके भंग किया।

इस प्रकार *नैषधीयचरित* में व्यक्त विचारों में भौतिकवाद, कामाचारवाद एवं वेद-विरोधी मतों की स्पष्ट अभिव्यक्ति मिलती है।

भौतिकवाद के सर्वक्षण के क्रम में अब तक जिन साहित्यिक स्रोतों का उल्लेख हुआ है, उनसे यह स्पष्ट होता है कि भौतिकवादी विचारधारा की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। यह अलग बात है कि यह विचारधारा एक संगठित दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में कब और कैसे विकसित हुई, यह स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। तथापि प्रवृत्ति के रूप में अथवा अपने प्रारम्भिक बीज-स्वरूप में भौतिकवाद वेदों और उपनिषदों में विद्यमान रहा है। भारतीय दर्शनों में भी यह प्रायः पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत हुआ है, जिससे इसके दार्शनिक रूप में व्यवस्थित होने का अनुमान होता है। अतः पूर्व उल्लिखित साहित्यों के अतिरिक्त यहाँ संक्षेप में कुछ अन्य दार्शनिक एवं दर्शनेतर ग्रन्थों का उल्लेख किया जा रहा है, जो भौतिकवादी विचारों पर प्रकाश डालते हैं तथा इसके सम्प्रदायबद्ध रूप में विकसित होने का संकेत देते हैं।

न्याय दर्शन में "अर्थ" की अवधारणा

भारतीय दर्शन की विभिन्न परंपराओं में "अर्थ" की अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण मानी जाती है, परंतु Nyaya में इसका विशिष्ट और गहन विश्लेषण मिलता है। न्याय दर्शन मुख्यतः तर्क (logic), ज्ञानमीमांसा (epistemology) तथा यथार्थवाद (realism) पर आधारित है। इस दर्शन का प्रमुख उद्देश्य है—सत्य ज्ञान की प्राप्ति और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करना। इस संदर्भ में "अर्थ" शब्द का प्रयोग अत्यंत व्यापक और दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

न्याय दर्शन में “अर्थ” का सामान्य अर्थ केवल “धन” या “उद्देश्य” नहीं, बल्कि वस्तु, तत्त्व, ज्ञेय (knowable) या प्रमेय के रूप में किया जाता है। यह वह सब कुछ है जो ज्ञान का विषय बन सकता है। अतः “अर्थ” की अवधारणा न्याय दर्शन की संपूर्ण ज्ञानमीमांसा का आधार स्तंभ है।

1. “अर्थ” का शाब्दिक एवं दार्शनिक अर्थ

संस्कृत भाषा में “अर्थ” शब्द अत्यंत व्यापक और बहुआयामी है, जिसका प्रयोग सामान्य जीवन में उद्देश्य, प्रयोजन, धन, भावार्थ तथा वस्तु के रूप में किया जाता है। किंतु दार्शनिक परंपराओं, विशेषतः Nyaya में “अर्थ” का प्रयोग एक विशिष्ट तकनीकी अर्थ में किया जाता है। यहाँ “अर्थ” का तात्पर्य किसी भी ऐसी वस्तु या तत्त्व से है जो ज्ञान का विषय बन सके। इस प्रकार न्याय दर्शन में “अर्थ” केवल शब्दार्थ तक सीमित नहीं रहता, बल्कि समस्त ज्ञेय जगत् को समाहित करता है।

न्याय दर्शन के अनुसार “अर्थ” वह है जिसे प्रमाणों के माध्यम से जाना जाता है। न्यायसूत्र में कहा गया है— “प्रमाणैरर्थपरिच्छेदः”, अर्थात् प्रमाणों के द्वारा अर्थ का निर्धारण होता है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि “अर्थ” ज्ञान का विषय है, जबकि प्रमाण ज्ञान का साधन है। इस प्रकार “अर्थ” और ज्ञान के बीच एक अविभाज्य संबंध स्थापित होता है, जो न्याय दर्शन की ज्ञानमीमांसा की आधारशिला है।

दार्शनिक दृष्टि से “अर्थ” को एक वस्तुगत (objective) सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। न्याय दर्शन यह मानता है कि वस्तुएँ हमारे ज्ञान से स्वतंत्र रूप से अस्तित्व रखती हैं। अर्थात् यदि कोई वस्तु हमारे ज्ञान में न भी आए, तब भी उसका अस्तित्व बना रहता है। यह दृष्टिकोण न्याय दर्शन को यथार्थवादी बनाता है, जहाँ “अर्थ” को केवल मानसिक कल्पना न मानकर वास्तविक वस्तु के रूप में स्वीकार किया जाता है।

न्याय दर्शन में “अर्थ” और Prameya (प्रमेय) के बीच भी घनिष्ठ संबंध है। प्रमेय वे सभी तत्त्व हैं जो जानने योग्य हैं, और इन्हें ही व्यापक अर्थ में “अर्थ” कहा जाता है। इस प्रकार भौतिक वस्तुएँ, मानसिक अवस्थाएँ और आध्यात्मिक तत्त्व—सभी “अर्थ” की श्रेणी में आते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि “अर्थ” की अवधारणा अत्यंत व्यापक है और यह केवल बाह्य जगत् तक सीमित नहीं, बल्कि आंतरिक और आध्यात्मिक जगत् को भी समाहित करती है।

इसके अतिरिक्त भाषा के संदर्भ में भी “अर्थ” का विशेष महत्व है। कोई भी शब्द तभी सार्थक माना जाता है जब वह किसी वस्तु या तत्त्व को अभिव्यक्त करता है। उदाहरण के लिए “गौः” शब्द सुनते ही हमारे मन में गाय का बोध होता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ के बीच एक स्थायी और सार्थक संबंध स्थापित होता है, जो न्याय दर्शन की भाषिक विचारधारा का आधार है।

अतः स्पष्ट है कि न्याय दर्शन में “अर्थ” की अवधारणा केवल एक सामान्य शब्दार्थ नहीं, बल्कि एक गहन दार्शनिक सिद्धांत है, जो ज्ञान, तर्क और वास्तविकता की समझ को आधार प्रदान करता है।

2. प्रमाण और अर्थ का संबंध

न्याय दर्शन में “प्रमाण” और “अर्थ” का संबंध अत्यंत गहरा और परस्पर निर्भर है। प्रमाण वह साधन है जिसके माध्यम से यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है, जबकि “अर्थ” वह विषय है जिसका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस प्रकार प्रमाण और अर्थ एक ही ज्ञान-प्रक्रिया के दो अभिन्न पक्ष हैं—एक साधन है और दूसरा साध्य। बिना प्रमाण के “अर्थ” का ज्ञान संभव नहीं है, और बिना “अर्थ” के प्रमाण का कोई उद्देश्य नहीं रह जाता।

न्याय दर्शन चार प्रकार के प्रमाणों को स्वीकार करता है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन सभी प्रमाणों का अंतिम उद्देश्य “अर्थ” का ज्ञान प्राप्त करना है। प्रत्यक्ष प्रमाण के अंतर्गत इन्द्रियों के माध्यम से वस्तुओं का

सीधा ज्ञान प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए जब हम किसी वृक्ष को अपनी आँखों से देखते हैं, तो वह वृक्ष “अर्थ” है और उसका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। यहाँ इन्द्रिय और वस्तु के संपर्क से ज्ञान उत्पन्न होता है।

अनुमान प्रमाण के माध्यम से हम उन “अर्थों” का ज्ञान प्राप्त करते हैं जो प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध नहीं होते। जैसे धुआँ देखकर अग्नि का ज्ञान करना। यहाँ अग्नि वह “अर्थ” है जो सीधे दिखाई नहीं देता, परंतु तर्क के आधार पर उसका ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार अनुमान में “अर्थ” का ज्ञान पूर्व अनुभव और सामान्य नियमों पर आधारित होता है।

उपमान प्रमाण के माध्यम से किसी नई वस्तु का ज्ञान समानता के आधार पर किया जाता है। जब किसी अज्ञात वस्तु की तुलना किसी ज्ञात वस्तु से की जाती है, तब उस अज्ञात वस्तु का ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए यदि किसी व्यक्ति ने “गवय” के बारे में सुना कि वह गाय के समान होता है, और बाद में जंगल में उसे देखकर पहचान लेता है, तो यह उपमान के माध्यम से “अर्थ” का ज्ञान है।

शब्द प्रमाण के अंतर्गत विश्वसनीय व्यक्तियों या शास्त्रों के कथनों के माध्यम से “अर्थ” का ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे गुरु या ग्रंथ के माध्यम से स्वर्ग, धर्म या ईश्वर के विषय में ज्ञान प्राप्त करना। यहाँ “अर्थ” प्रत्यक्ष अनुभव में नहीं आता, परंतु शब्द के माध्यम से उसका ज्ञान संभव होता है।

प्रमाण और अर्थ के संबंध को एक त्रिकोणीय संरचना में समझा जा सकता है—प्रमाण ज्ञान का साधन है, “अर्थ” ज्ञान का विषय है और ज्ञान उसका परिणाम है। यदि प्रमाण सही है, तो “अर्थ” का ज्ञान भी यथार्थ होगा; यदि प्रमाण में त्रुटि है, तो “अर्थ” का ज्ञान भी मिथ्या हो जाएगा। उदाहरण के लिए अंधेरे में रस्सी को साँप समझ लेना प्रत्यक्ष प्रमाण की त्रुटि है, जिसके कारण “अर्थ” का गलत ज्ञान उत्पन्न होता है।

3. प्रमेय के रूप में “अर्थ”

न्याय दर्शन में Prameya (प्रमेय) की अवधारणा “अर्थ” के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है। प्रमेय वे सभी तत्त्व हैं जो ज्ञान के विषय होते हैं, अर्थात् जिन्हें प्रमाणों के माध्यम से जाना जा सकता है। इस दृष्टि से न्याय दर्शन में “अर्थ” और प्रमेय लगभग समानार्थक हो जाते हैं। जो कुछ भी ज्ञेय है—चाहे वह भौतिक हो, मानसिक हो या आध्यात्मिक—वह “अर्थ” है। इस प्रकार “अर्थ” की अवधारणा को समझने के लिए प्रमेयों का अध्ययन अनिवार्य हो जाता है।

न्याय दर्शन में बारह प्रकार के प्रमेयों का उल्लेख मिलता है—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ (विषय), बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), फल, दुःख और अपवर्ग (मोक्ष)। ये सभी तत्त्व ज्ञान के विषय हैं और इसलिए “अर्थ” की श्रेणी में आते हैं। उदाहरण के लिए आत्मा एक आध्यात्मिक तत्त्व है, जबकि शरीर एक भौतिक तत्त्व है, और बुद्धि एक मानसिक अवस्था है—फिर भी ये सभी “अर्थ” हैं क्योंकि ये जानने योग्य हैं।

4. अर्थ की सत्ता और यथार्थवाद

न्याय दर्शन का एक प्रमुख दार्शनिक आधार उसका यथार्थवादी दृष्टिकोण है, जिसके अनुसार “अर्थ” की सत्ता वास्तविक और स्वतंत्र होती है। Nyaya यह मानता है कि बाह्य जगत की वस्तुएँ हमारे ज्ञान या अनुभव पर निर्भर नहीं हैं, बल्कि उनका अस्तित्व अपने आप में है। इस प्रकार “अर्थ” को एक वस्तुगत (objective) और स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है।

न्याय दर्शन के अनुसार यदि कोई वस्तु हमारे ज्ञान में न भी आए, तब भी उसका अस्तित्व बना रहता है। उदाहरण के लिए यदि किसी कमरे में कोई वस्तु रखी है और वहाँ कोई व्यक्ति उपस्थित नहीं है, तब भी वह वस्तु अस्तित्व

में बनी रहती है। इससे स्पष्ट होता है कि “अर्थ” का अस्तित्व ज्ञान से पूर्व और स्वतंत्र है। ज्ञान केवल उस “अर्थ” का बोध कराता है, उसे उत्पन्न नहीं करता।

यह दृष्टिकोण न्याय दर्शन को आदर्शवाद (idealism) से अलग करता है, जो यह मानता है कि वस्तुएँ केवल मन की कल्पना हैं। न्याय दर्शन इसके विपरीत यह सिद्ध करता है कि वस्तुएँ वास्तविक हैं और उनका स्वरूप स्थायी है। उदाहरण के लिए अग्नि का ताप एक वास्तविक गुण है, न कि केवल मानसिक अनुभव।

यथार्थवाद के इस सिद्धांत के कारण न्याय दर्शन में सत्य ज्ञान का विशेष महत्व है। यदि “अर्थ” वास्तविक है, तो उसका ज्ञान भी वास्तविक होना चाहिए। इसीलिए न्याय दर्शन में प्रमाणों की शुद्धता और तर्क की वैधता पर विशेष बल दिया जाता है, ताकि “अर्थ” का यथार्थ स्वरूप जाना जा सके।

निष्कर्ष

चार्वाक तथा न्याय दर्शन भारतीय दर्शन की दो भिन्न विचारधाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिनमें जीवन, ज्ञान और सत्य के संबंध में अलग-अलग दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं। चार्वाक दर्शन ने प्रत्यक्ष अनुभव और भौतिक सुख को जीवन का केंद्र मानकर परंपरागत धार्मिक मान्यताओं को चुनौती दी। इस दर्शन का मुख्य योगदान यह है कि इसने स्वतंत्र चिंतन, तर्कशीलता और अनुभवजन्य ज्ञान पर बल दिया। यद्यपि चार्वाक दर्शन को अत्यधिक भौतिकवादी होने के कारण आलोचना का सामना करना पड़ा, फिर भी इसने भारतीय चिंतन को प्रश्न करने और प्रमाण की आवश्यकता को समझने की दिशा प्रदान की। दूसरी ओर न्याय दर्शन ने तर्क, प्रमाण और व्यवस्थित ज्ञान की परंपरा को विकसित किया। इस दर्शन ने ज्ञान प्राप्ति की वैज्ञानिक एवं तार्किक पद्धति प्रस्तुत करते हुए भारतीय दर्शन को बौद्धिक आधार प्रदान किया। न्याय दर्शन का प्रभाव केवल दर्शन तक सीमित नहीं रहा, बल्कि भाषा, तर्कशास्त्र और ज्ञानमीमांसा के विकास में भी इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। इस प्रकार, चार्वाक और न्याय दर्शन दोनों ही भारतीय दार्शनिक परंपरा में अपने-अपने स्तर पर अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। एक ओर चार्वाक दर्शन अनुभव और भौतिक जीवन की वास्तविकताओं को उजागर करता है, तो दूसरी ओर न्याय दर्शन सत्य की खोज में तर्क और प्रमाण की महत्ता को स्थापित करता है। दोनों दर्शनों का अध्ययन भारतीय संस्कृति और चिंतन की व्यापकता तथा वैचारिक विविधता को समझने में अत्यंत उपयोगी सिद्ध होता है।

सन्दर्भ

1. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 38, श्लोक 22-27, 35; अध्याय 39, श्लोक 3-5।
2. Mittal, M. I. T., p. 29।
3. सर्वदानन्द पाठक, *चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा*, पृ. 33-39।
4. Cf. Dale Riepe, *N.T.I.T.*, p. 6।
5. Cf. Dale Riepe, *N.T.I.T.*, p. 7।
6. Barua, B. M., *H.P.B.I.P.*, p. 5।
7. ऋग्वेद X.82.7; ऐतरेय आरण्यक 1.2.1; छान्दोग्य उपनिषद् 1.5.1; ऋग्वेद X.129.4।
8. Mittal, M. I. T., p. 64।
9. सर्वपल्ली राधाकृष्णन, *Indian Philosophy*, Vol. I, p. 35।
10. ऋग्वेद 1.164.6; वही, *भारतीय दर्शन*, भाग 1, पृ. 255।

11. ऋग्वेद 1.164; 10.121; 10.190; 10.81।
12. ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य 2.4.8।
13. एस. एन. दासगुप्ता, *History of Indian Philosophy*, Vol. I, p. 23।
14. ऋग्वेद 1.184; 10.72; 10.90; 10.190।
15. Cf. Barua, *H.P.B.I.P.*, pp. 13ff.